International Journal of Arts & Education Research

वैदिक साहित्य में शिक्षा के उद्देश्य एवं महत्व

Shailendra Pratap Singh
CLM Inter College
Jani Khurd Meerut.
M.A.(Sociology, Pol.Science, Education)

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्राचीन भारत में शिक्षा ज्ञान प्राप्ति का सबसे बड़ा स्त्रोत माना जाता था। व्यक्ति के जीवन को संतुलित और श्रेष्ठ बनाने तथा एक नयी दिशा प्रदान करने में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान था। सामाजिक बुराईयों को उसकी जड़ों से निर्मूल करने और त्रुटिपूर्ण जीवन में सुधार करने के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी।[१] यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसके द्वारा सम्पूर्ण जीवन ही परिवर्तित किया जा सकता था। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व का विकास करने, वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने और अपनी समस्याओं को दूर करने के लिए शिक्षा पर निर्भर होना पड़ता था। आधुनिक युग की भांति प्राचीन भारत में भी मनुष्य के चरित्र का उत्थान शिक्षा से ही सम्भव था।

सामाजिक उत्तरदायित्वों को निष्ठापूर्वक वहन करना प्रत्येक मानव का परम् उद्देश्य माना जाता है। इसके लिये भी शिक्षित होना अनिवार्य है। जीवन की वास्तविकता को समझने में शिक्षा का उल्लेखनीय योगदान रहता है। भारतीय मनीषियों ने इस ओर अपना ध्यान केन्द्रित करके शिक्षा को समाज की आधारशिला के रूप में स्वीकार किया।[२] विद्या का स्थान किसी भी वस्तु से बहुत ऊँचा बताया गया। प्रखर बुद्धि एवं सही विवेक के लिये शिक्षा की उपयोगिता को स्वीकार किया गया। यह माना गया कि शिक्षा ही मनुष्य को व्यावहारिक कर्त्तव्यों का पाठ पढ़ाने और सफल नागरिक बनाने में सक्षम है।[३] इसके माध्यम से व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अर्थात् सर्वांगीण विकास सम्भव है। शिक्षा ने ही प्राचीन संस्कृति को संरक्षण दिया और इसके प्रसार में मदद की।

विद्या का आरम्भ उपनयन संस्कार द्वारा होता था। उपनयन संस्कार के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए मनुस्मृति में उल्लेख मिलता है कि गर्भाधान संस्कार द्वारा तो व्यक्ति का शरीर उत्पन्न होता है पर उपनयन संस्कार द्वारा उसका आध्यात्मिक जन्म होता है।[४] प्राचीन काल में बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए आचार्य के पास भेजा जाता था।[५] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जो ब्रह्मचर्य ग्रहण करता है वह लम्बी अवधि की यज्ञावधि ग्रहण करता है। छान्दोग्यापनिषद् में उल्लेख मिलता है कि आरूणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मचारी रूप से वेदाध्ययन के लिए गुरू के पास जाने को प्रेरित किया था। आचार्य के पास रहते हुए ब्रह्मचारी को तप और साधना का जीवन बिताते हुए विद्याध्ययन में तल्लीन रहना पड़ता था। इस अवस्था में बालक जो ज्ञानार्जन करता था उसका लाभ उसको जीवन भर मिलता था।[६] गुरू गृह में निवास करते हुए विद्यार्थी समाज के निकट सम्पर्क में आता था। गुरू के लिए समिधा, जल का लाना तथा गृह-कार्य करना उसका कर्त्तव्य माना जाता था। गृहस्थ धर्म की शिक्षा के साथ-साथ वह श्रम और सेवा का पाठ पढ़ता था। शिक्षा केवल सैद्धान्तिक और पुस्तकीय न होकर जीवन की वास्तविकताओं के निकट होती थी।[७] इन्हीं समस्त कारणों से ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र बताया गया है जो मनुष्य को अन्तर्दृष्टि प्रदान करने के साथ-साथ प्रत्येक कार्य को करने की क्षमता प्रदान करता है। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए व्यक्ति ज्ञान द्वारा समस्त दैवी गुणों को प्राप्त कर लेता है।[८] बृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि तीन लोकों मनुष्य लोक, पितृ लोक और देवलोक में देवलोक ही सर्वश्रेष्ठ है जिसकी प्राप्ति विद्या द्वारा ही सम्भव है।[९]

(१) वैदिक साहित्य में शिक्षा : अर्थ एवं परिभाषा

वैदिक-साहित्य के चतुर्वेद अर्थात ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक-ग्रन्थ एवं उपनिशद-ग्रन्थों के बाद वेदांगों का स्थान आता है। वेदांग किसे कहते है? सर्वप्रथम इसके बारे में जान लेना अति अव"यक है। वेदांग भाब्द दो भाब्दों के मेल से मिलकर बना है-वेद+अंग। वेद भाब्द संस्कृत की विद्धातु (विद्ज्ञाने) में घञ् प्रत्यय करने से वेद भाब्द की निश्पति होती है। जिसका अर्थ है-ज्ञान। इस प्रकार वेदांग का अर्थ है-वेदस्य अङ्गानि अर्थात वेद के अंग। **अंग का अर्थ है-अंग्यन्ते ज्ञायन्ते एभिरित अगांनि** अर्थात् वे उपकारक तत्त्व जिनसे वस्तु के स्वरूप का बोध हो। वेदों के वास्तविक अर्थ के ज्ञान के लिए जिन साधनों की आव"यकता होती है, उन्हें वेदाग ं कहते है। वेदांग कितने हैं, इस सम्बंध में सर्वप्रथम वेदागों के भेदों का वर्णन मुण्डकोपनिशद में

विवरण प्राप्त होता है कि - **तत्तापरा** ऋग्वेदो **यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पोव्याकरणं निरुक्तं छनदों ज्योतिशमिति।।**[१०] अर्थात वेदांगों का वर्णन वेदों के बाद ही हुआ है। वेदांग छः है-

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छनदसां चयः।
ज्योतिशामयन ं चैव वेदाङ्गनि शडेव त्तु।।[११]

वेदांगों के उद्भव का मूल कारण वेद है। वेदों की महत्त्वता व्यक्त करना ही इनका परम उद्देश्य है। पणिनीय शिक्षा में वेद पुरुश के छःअगों के रूप में छःवेदागों का वर्णन किया गया है कि-

छनदः पादौ तु वेदस्य हस्तो कल्पोश्थ पठ्यते।
ज्योतिशामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[१२]

अर्थात् छनद वेद पुरुश के पैर है, कल्प वेदपुरुश के हाथ है, ज्योतिश नेत्र है, निरुक्त श्रोत्र है, शिक्षा नासिका एंव व्याकरण वेद रूपी पुरुष का मुख है। 'शड्वेदांगो में किस वेदागं का क्या-क्या महत्त्व है, इस का संक्षित विवरण इस प्रकार से है-

(अ) शिक्षाः-

'डवेदांगों में सर्वप्रथम वेदांग शिक्षा का स्थान है। शिक्षा का अर्थ है-**स्वरः वर्णादयुच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा** शिक्षा। अर्थात स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण की शिक्षा। देना ही शिक्षा। है।[१३] शिक्षा। भास्त्र में मुख्य रूप से छः बातों पर वि"ोश ध्यान दिया गया है। वे है- वर्ण, स्वर, माता, बल, साम एवं मात्रा **(बलम, साम, संतानः, इत्युक्तः शिक्षा। ध्यायः)**[१४]। वेद-पाठ की शुद्धता के लिए इन विधि-विधानों की पूर्ण जानकारी होना परमाव"यक बतायी गई है क्योंकि इनके अभाव में आरोह एवं अवरोह पर ध्यान न देने से मंत्रों का उच्चारण अशुद्ध हो जाता है। इनका कतिपय विवरण इस प्रकार से हैः-

(१) वर्णः-

वह छोटी से छोटी इकाई अर्थात् ध्वनि जिसके टुकड़े नहीं किए जा सकते हो, उसको वर्ण कहते है। संस्कृत में प्रयुक्त सबसे छोटी ध्वनि-अ,आ,ई,उ,क,ख,ग आदि अभिव्यक्त ध्वनियाँ वर्ण कहलाती है। वर्णो के समुच्चय या समुदाय को वर्णमाला कहते है। वर्णमाला वर्णो की वह माला है जिन्हें क्रमबद्ध रूप में रखा गया है। विश्व की सभी भाशाओं में संस्कृत भाशा की वर्णमाला एक वैज्ञानिक वर्णमाला मानी जाती है क्योंकि संस्कृत वर्णमाला में मानव मुंह से निकलने वाली हर प्रकार की ध्वनि को लिपिबद्ध करने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त संस्कृत वर्णमाला पूर्णतः वैज्ञानिक व समृद्ध वर्णमाला मानी जाती है। संस्कृत वर्णमाला में ६३ वर्ण है। अतः शुद्ध उच्चारण के लिए वर्णो का विषेश महत्त्व है ं।

(२) स्वरः-

स्वरों का उच्चारण करते समय उसमें स्वराघात पर विषेश ध्यान देना चाहिए ताकि स्वराघात से शब्दों के अर्थों का सटीक से निर्धारण हो सके। स्वर तीन प्रकार के होते है इसका वर्णन लघुसिद्धान्तकौमदी के संज्ञा प्रकरण में दिया गया है कि - **उदात्त (उच्चैरुदात्तः)** तालु आदि सभाग स्थान के उर्ध्वभाग से उच्चरित स्वर उदात्त कहलाता है। **अनुदात्त (नीचैरनुदात्तः)** तालु आदि सभाग स्थानों के अधोभाग से उच्चरित स्वर अनुदात्त संज्ञक होता है। **समाहार (समाहारः स्वरितः)** जिस स्वर में उदात्त एवं अनुदात्त दोनों ही गुणों का सम्मिश्रण होता है वह स्वरित कहलाता है ।[१५]

(३) मात्राः-

स्वरों के उच्चारण में आने वाले समय को मात्रा कहते है। मात्राएँ तीन प्रकार की होती है-ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत।

(क) ह्रस्वः- जिस स्वर के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगे उसे ह्रस्व कहते है।

(ख) दीर्घः- दीर्घ स्वर मे ं यदि स्वर के उच्चारण में द्विगुण समय लगे उसे दीर्घ स्वर कहते है।

(ग) प्लुतः- जिस स्वर के उच्चारण में त्रिगुणा समय लगे उसे प्लुत कहते है।

एक मात्रो भवेद ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रास्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यंजनं चार्धमात्रकम्।।[१६]

(४) बलः- वर्णो के उच्चारण में होने वाले प्रयत्न तथा उसके उच्चारण स्थान को बल कहते है। प्रयत्न दो प्रकार का होता है- बाह्य एवं आभ्यन्तर। बाह्य एव आभ्यन्तर।

(क) बाह्य प्रयत्नः- बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के होते है -

विवारः संवारः भवासो नादो घोशो घोशल्पप्राणों।
महाप्राण उदात्तोनुदात्तः स्वरितश्चेति।।[१७]

(ख) आभ्यन्तर प्रयत्नः- आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार के होते हैः-

स्पृश्टेशत्स्पृश्टेशद् विवृत-संवृतभेदात्।[१८]

(५) सामः- पाणिनीय शिक्षा। के अनुसार वर्णो का स्पश्ट उच्चारण हो, किसी भी वर्ण को दबाकर न बोले, बहुत भीघ्रता से न बोले, स्वर एवं अर्थ-ज्ञान से सहित प्रत्येक वर्ण का भुद्ध उच्चारण करें।[१९]

(६) संतानः- इसका आशय संहिता पाठ में प्रयुक्त भाब्दों मे सन्धि-नियमों को लगाने से है।

शिक्षा। मे ं छः अंगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि वेद-पाठ का भुद्धोच्चारण एवं स्वर प्रक्रिया पर वि"ोश ध्यान न दिया जाए तो जिस इश्ट प्राप्ति के लिए वेद-पाठ किया जा रहा है तो उस इश्ट की प्राप्ति होना असम्भव ही नहीं अपितु उसका फल अनिश्टकारी भी हो जाता है। इसके संदर्भ में यास्क ने अपने निरुक्त में लिखा है कि-

मंत्रहीनो स्वरतो वर्णतो मिथ्याप्रयुक्तों न तमर्थमाह।
स वागव्रजो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रभात्रुः स्वरतोऽपराधात् ।[२०]

(२)वैदिक कालीन शिक्षा के उद्देश्य एवं महत्व

प्राचीन भारत में शिक्षा का विकास केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए ही नहीं हुआ था अपितु धर्म के मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त करने का सतत् प्रयास भी था। शिक्षा। धर्म का एक अंग थी इसीलिए जीवन की समस्त क्रियाएं धर्म का अनुकरण कर अपने एकमात्र गन्तव्य मोक्ष की ओर अग्रसित हुई थी क्योंकि मोक्ष प्राप्त करना ही जीवन का अन्तिम उद्दे"य था। इसी दृश्टिकोण को ध्यान में रखकर शिक्षा। के उद्देश्य निर्धारित किए गए थे। जैसा कि डॉ० ए०एस० अल्तेकर ने लिखा है ''प्राचीन भारतीय शिक्षा। के उद्दे"यों एवं आदर्शों का वर्णन इस प्रकार कर सकते हैं- ईश्वर भक्ति की भावना एवं धार्मिकता का समावेश, चरित्र का निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक कर्त्तव्यों को समझाना, सामाजिक कुशलता की उन्नति तथा संस्कृति का संरक्षण तथा प्रसार'' वैदिक काल की शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य थे।[२१]

१. **ईश्वर भक्ति एवं धार्मिकता** वैदिक शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक में ई"वर भक्ति और धार्मिकता की भावना विकसित करना था क्योंकि इस काल में धर्म का जीवन में प्रमुख स्थान था। इसीलिए शिक्षा में विभिन्न स ंस्कारों की व्यवस्था की गयी थी। ऋशि, महर्शि, पुरोहित आदि लोग शिक्षा का निर्धारण तथा शिक्षा देने का कार्य करते थे। अतएव इस काल की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ईश्वर भक्ति तथा धर्म के नियमों का कठोरता के साथ पालन करना था। छात्रों को व्रतों का पालन, नियमित सन्ध्या-अर्चना, प्रातः पूजा पाठ धार्मिक कृत्यों में सक्रिय भाग लेना आव"यक था। प्राचीन भारत में धर्म की परिधि इतनी व्यापक थी कि प्रायः सभी मानवीय क्रिया-कलाप धर्मानु"ाासित होते थे। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार भारतीय आर्यों की प्रथम साहित्यिक वाणी ऋग्वेद की रचना के लगभग एक हजार वर्श बाद भी भारतीय साहित्य को धार्मिक भावनाएँ अनुप्राणित करती रही हैं। अतः ज्ञान-ज्ञान के लिए न होकर धर्म के मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्त करने के क्रमिक प्रयास की एक कड़ी की रूप में माना जाता था। इस प्रकार की शिक्षा को सार्थक माना जाता था, जो संसार में व्यक्ति की मुक्ति को सम्भव बनाये- जैसा कि उपनिशदों में कहा गया है- ''सा विद्या या विमुक्तये'' व्यक्ति को मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती थी जब वह ई"वर भक्ति और धार्मिकता की भावना से पूर्ण हो।

२. **चरित्र अथवा आचरण का उत्थान** वैदिक शिक्षा। का अन्य उद्देश्य बालक के चरित्र अथवा आचरण का उत्थान करना था क्योंकि वैदिक काल में विद्वता की अपेक्षा में उत्तम चरित्र को अधिक महत्व दिया जाता था। चरित्र और आचरण का इतना अधिक महत्व था कि समस्त वेदों का ज्ञाता विद्वान, सच्चरित्रता और सदाचरण के अभाव में माननीय नहीं था, किन्तु केवल गायत्री मन्त्र का ज्ञाता पंडित अपनी सच्चरित्रता के कारण माननीय और पूजनीय था। गुरुकुलों के उत्तम वातावरण, सदाचार उपदेशों, महापुरूषों के उदाहरणों, महान विभूतियों के आदर्शों के द्वारा विद्यार्थियों के चरित्र का निर्माण किया जाता था। गुरु स्वयं आदर्श चरित्र वाले होते थे, जिसका प्रभाव भी विद्यार्थियों पर पडता था। वस्तुतः सच्चरित्रता व्यक्ति का भूशण मानी गयी थी। आचार सम्पन्न और चरिवान् व्यक्ति अभिनन्दनीय था तथा आचरणहीन और चरित्रहीन व्यक्ति निन्दनीय। सत्कर्मों से ही चरित्र का उत्थान माना गया था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्यों से ही संचालित होते थे। शिक्षा। अवधि में ही मनुश्य के आचरण और चरित्र को उन्नत बनाने की कोशिश की जाती थी। समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ उसके सद्व्यवहार की प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थान में महत्वपूर्ण तत्व थी। सहिष्णुता और सौहार्द्र सत्यनिश्ठा और नैतिकता तथा सदाचरण और आदर्श मनुष्य के चरित्रोत्थान के प्रधान कारणभूत तत्व थे। अतः धर्म और चरित्र का जिसमें वर्धन था, वही पण्डित था। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति अपनी तामसी और पाशविक प्रवृत्तियों पर अंकुश रखता था तथा सत्य असत्य का भेद कर सकने में समर्थ होता था। जब मनुष्य को सत् का पूर्ण ज्ञान हो जाता था और अपने चरित्र एवं आचरण को वह तदनुकूल बना लेता था, तब उसके चरित्र का

उत्थान प्रारम्भ होता था विद्यार्थी काल में ही शिक्षा की यथोचित प्राप्ति होती थी तथा चरित्र को तद्नुकूल संघटित करने का अवसर मिलता था, इसलिए चरित्र का विकास और भावी जीवन के विस्तार का यह सर्वोत्तम काल था। अपने इस काल में विद्यार्थी विभिन्न नियमों और निर्देशों का पालन सुगमतापूर्वक कर सकता था, व्यवहार, सदाचार, शील का अर्थ समझ सकता था।

३. **व्यक्तित्व का विकास** व्यक्तित्व का विकास करना भी वैदिक शिक्षा। का प्रमुख उद्देश्य था। विभिन्न प्रकार के नियमों, सयमों और निर्देशों से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता था, जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था। विद्यार्थियों को इस प्रकार शिक्षित किया जाता था जिससे उनमें आत्मविश्वास, आत्मस ंयम, आत्मचिन्तन, आत्म-विश्लेशण, विवेक-भावना, न्यायप्रवृत्ति, आध्यात्मिक वृत्ति का उदय हो सके। आत्मवि"वास की भावना से ही विद्यार्थी मे ं व्यक्तित्व का विकास समुचित रूप से होता था। शिक्षा। प्रारम्भ करने के पूर्व जब उपनयन संस्कार होता था उसी समय विद्यार्थी का आत्मविश्वास जगाया जाता था तथा 'अग्नि' से यह प्रार्थना की जाती थी कि वह छात्र पर अपनी दयादृष्टि रखे और उसकी बुद्धि, मेधा और शक्ति में वृद्धि करे। वैदिक काल में यह माना गया कि शिक्षाार्थी में आत्म विश्वास का होना शिक्षार्थी के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का कारण था। विद्यार्थी के लिए आत्म संयमी होना आव"यक था। आत्मसंयमी होने का अभिप्राय आत्म नियंत्रण से था। अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की दृश्टि से इंद्रियों और मन की अनियंत्रित प्रवृत्तियों को नियन्त्रित और व्यवस्थित रखना आत्म संयम था। इससे व्यक्तित्व का उत्कर्श स्वाभाविक रूप से होता था। गीता के अनुसार संयमयुक्त योग उस व्यक्ति के ही दुःखों को दूर करता है जो यथायोग्य आहार विहार करने वाला, कर्मों में यथायोग्य रत रहने वाला तथा यथायोग्य सोने वाला और जागने वाला होता है। इस नियमित और व्यवस्थित आचरण से ही विद्यार्थी के अन्दर आत्म संयम के गुण का विकास होता था और विवेक भावना और न्याय की प्रवृत्ति का विकास होता था जिससे धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता की भी वृद्धि विद्यार्थी में होती थी। अतः व्यक्तित्व के विकास के लिए इन इनका समुचित विकास करना ही वैदिक शिक्षा का उद्देश्य था।

४. **नागरिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करने योग्य बनाना** प्राचीन वैदिक कालीन शिक्षा का एक उद्देश्य बालकों को नागरिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करने योग्य बनाना भी था। इसके लिए बच्चों की भावना स्वार्थ-रहित होकर दूसरे के लाभों को ध्यान में रखकर शिक्षा। देना था। व्यक्ति को अपने समाज तथा घर, परिवार और समाज के प्रति क्या उत्तरदायित्व होते हैं, आदि बातों का ज्ञान कराया जाता था। इसके लिए आचार्यों द्वारा विद्यार्थियों को विभिन्न प्रकार के उपदेश दिये जाते थे जैसे अतिथियों का सत्कार करना, गरीबों एवं दीन-दुःखियों की सहायता करना, मित्रों एवं अन्य लोगों के प्रति विनम्रता एवं निःस्वार्थता का व्यवहार करना, वैदिक साहित्य की निःशुल्क शिक्षा देना, पिता, पुत्र, भाई एवं पति के रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन करना आदि। वेदों में व्यक्ति के व्यक्ति प्रति, व्यक्ति के समाज के प्रति, व्यक्ति के राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्यों की विशद व्याख्या की गयी है। समावर्तन संस्कार में भी गुरु द्वारा विद्यार्थियों को उनके कर्त्तव्यों का बोध कराने हेतु उपदेश दिए जाने का उल्लेख मिलता है, सत्य बोलना। धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद न करना। आचार्य को दक्षिणा देना। सन्तति-उत्पादन की परम्परा विच्छिन्न न करना। सत्य से न हटना। धर्म से न हटना। लाभ कार्य में प्रमाद न करना। देवता और पितरों के कार्य (यज्ञ और श्राद्ध आदि) में प्रमाद न करना। माता को देवी समझना। आचार्य को देवता समझना। अतिथि को देवता समझना। अन्यान्य दोश रहित कार्यों को करना। इस कथन से स्पश्ट है कि मनुष्य के अनेकानेक उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य थे और वैदिक कालीन शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को इन कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों के पालन करने योग्य बनाना था।

५. **सामाजिक कुशलता का विकास करना** सामाजिक कुशलता की उन्नति करना भी वैदिक शिक्षा का उद्देश्य था क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अतः समाज में कुशलतापूर्वक जीवनयापन करने के लिए उनमें कुछ कौशलों का विकास करना आव"यक होता है। जिससे बालक अपने व्यवहारिक जीवन में किसी प्रकार की असफलता का सामना न करे। उसको शिक्षा द्वारा जीविकोपार्जन के योग्य बना दिया जाता था। इसके लिए छात्रों को उनके वर्ण और रूचि के अनुकूल विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों की शिक्षा। अनिवार्य रूप से दी जाती थी। शिक्षा पूर्णतया सैद्वान्तिक एवं साहित्यिक नहीं थी, वरन् किसी न किसी शिल्प से सम्बद्ध थी। वैदिक काल में मनुष्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास पर बल दिया जाता था। भौतिक जीवन को चलाने के लिए अन्न, जल और वस्त्र अन्यान्य वस्तुओं की आव"यकता होती है। अतः शिक्षा द्वारा मनुष्य को उत्पादन एवं वितरण में कुशल कर उसकी सामाजिक कुशलता में वृद्वि करना ही शिक्षा का अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य था। वेदों में देवताओं से अन्न एवं धन-धान्य से पूर्ण करने के लिए जो प्रार्थनाएँ की गई हैं, वे इस बात की प्रमाण है कि शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों में सामाजिक कुशलता की वृद्धि करना था जिससे वह सरलता से जीविका का उपार्जन करके अपने सुख में वृद्धि कर सके।

६. **भारतीय संस्कृति का संरक्षण तथा प्रसार करना** शिक्षा उदीयमान सन्तति को उत्तम प्राचीन परम्पराओं को ग्रहण कराके उनके अनुसार आचरण करना ही नहीं सिखाती अपितु इन प्राचीन परम्पराओं को आने वाली पीढ़ियों तक पहुँचाना भी सिखाती हैं। वेदों में अनेक शैक्षिक संस्कारों का विधान है। वेदों के अनुसार इन संस्कारों की विद्या से गुजरने के बाद ही मनुष्य वस्तुतः मनुष्य के रूप में संस्कारित होता था। शिक्षा द्वारा इन संस्कारों का ज्ञान एवं सम्पादन किया जाता था। संध्यावंदन, दैनिक यज्ञ, अतिथि सत्कार आदि जो हमारी संस्कृति के अंग हैं, इनका प्रशिक्षण देना वैदिक कालीन शिक्षा। का प्रमुख उद्देश्य माना जाता

था। भारत में तीन ऋणों (देव,ऋशि,पितृ) का सिद्धान्त प्राचीन मनीशियों तथा उनके शिष्यों को सदैव स्मरण रहता था। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म तीन ऋणों के साथ होता है। प्रत्येक हिन्दू परिवार में इन ऋणों की पूर्ति करना प्रधान कर्तव्य था। ब्रह्मचर्य द्वारा व्यक्ति ऋषि-ऋण अथवा संस्कृति के प्रति अपने कर्त्तव्य से मुक्त होता था, देवताओं के ऋण को वह यज्ञों द्वारा तथा पूर्वजों के ऋण को स्वयं सन्तानोत्पादन द्वारा पूर्ण करता था। प्राचीन भारत में इस प्रकार व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक विद्यार्थी संस्कृति तथा प्राचीन परम्पराओं संरक्षण एवं प्रसार करे। ऋशियों के प्रति आभार प्रदर्शन, स्वाध्याय, ऋशि तर्पण, कर्मों के द्वारा वह ऋणमुक्त होता था। वेद की भाशा जब लोगों की समझ के बाहर की वस्तु बन गई तब सांस्कृतिक जीवन के उत्थान में परम्पराओं को प्रचारित करने वाले नवीन साहित्य पुराणों का निर्माण हुआ, जिससे अतीत के जीवन के प्रति आकर्शण था। पुराणों का भारतीय परम्परा के संरक्षण और विकास में महान योगदान रहा है। प्राचीन वर्ण व्यवस्था से भी संस्कृति की सुरक्षा को बड़ा बल मिलता था। लोगों द्वारा अपने वर्ण के अनुसार कार्य किया जाता था, पुत्र द्वारा अपने पिता का व्यवसाय अपनाया जाता था। ब्राह्मण वेदों को कण्ठस्थ कर लिया करते थे तथा अपने शिष्यों को भी कठस्थ करा देना अपना कर्तव्य समझते थे। इन कार्यों से किसी का कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं होता था, लेकिन ऐसा करके वे पीढ़ी दर पीढ़ी ज्ञान का प्रसार करते थे।

७. **ज्ञान तथा अनुभव पर बल** वेदों में भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान और कौ"ालों को लिया गया है। भौतिक ज्ञान के अन्दर भौतिक जगत के ज्ञान, कृशि, पशुपालन एवं अन्य व्यवसायों को और आध्यात्मिक ज्ञान के अन्तर्गत आत्मा परमात्मा, जीव-जगत एवं कर्मयोग, ज्ञान योग एवं भक्ति योग आदि के ज्ञान को लिया गया है। वेदों का स्पष्ट मत है कि किसी भी क्षेत्र के स्पष्ट ज्ञान के ज्ञान योग एवं भक्ति योग आदि के ज्ञान को लिया गया है। वेदों का स्पष्ट मत है कि किसी भी क्षेत्र के स्पष्ट ज्ञान के बिना उस क्षेत्र की क्रियाओं का सही सम्पादन नहीं किया जा सकता। प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य केवल पढ़ना नहीं था, वरन् मनन्, स्मरण और स्वाध्याय द्वारा ज्ञान आत्मसात करना था।

८. **स्वास्थ्य संरक्षण एवं संवर्द्धन** वेदों के अनुसार ई"वर ने मनुष्य को एक वि"ोश प्रकार की देह (शरीर) एक वि"ोश प्रयोजन से दी है कि वह इस देह द्वारा अपनी आत्मा और उसके स्वरूप को पहचान सके। दृढ़ संकल्प के लिए दृढ़ शरीर आवश्यक है। इसलिए प्राचीन भारतीयों ने जोर देकर कहा है कि ब्रह्मचारी को अपने शरीर को पुष्ट बनाने का पूरा ध्यान रखना चाहिए क्योंकि पुश्ट शरीर सांसारिक ही नहीं धार्मिक कार्यों के लिए भी आव"यक है। वैदिक काल में ब्रह्मचारी के लिए यह आवश्यक था कि वह प्रातः काल उठकर सूर्य नमस्कार और प्राणायाम करे ताकि उसका शरीर स्वस्थ्य और पुष्ट बने।

९. **ज्ञान और कर्म का समन्वय सिखाना** शिक्षा वही सफल होती है, जिसमें कर्मठता की दीक्षा दी जाती है। प्रगतिशील, कर्मठ एवं सतत संघर्श"ाील बनाना शिक्षा का लक्ष्य है। अतएव अथर्ववेद में कहा गया है कि मेरी बुद्धि सदा कर्मठ रहे। एक अन्य मंत्र में कहा गया है कि देवता पुरूशार्थी को चाहते हैं, अकर्मण्य को नहीं। यजुर्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय ही अभीश्ट है। कर्म मार्ग (अविद्या) से जीवन निर्वाह होता है और ज्ञानमार्ग (विद्या) से मोक्ष (अमृत) प्राप्त होता है।

१०. **अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का समन्वय** वेद अध्यात्म और भौतिकवाद के समन्वय की शिक्षा देता है। यजुर्वेद और ईश उपनिशद् का कथन है कि केवल भौतिकवाद या प्रकृतिवाद अनर्थ का कारण है और केवल अध्यात्म उससे भी अधिक अनर्थकारी है, अतः जीवन के समन्वित विकास के लिए दोनों का समन्वय अभीश्ट है। भौतिकवाद जीवन की ज्वलन्त समस्याओं को हल करता है और अध्यात्मक अमरत्व एवं आत्मिक भाान्ति प्रदान करता है। मुण्डक उपनिशद् ने इसी बात को परा और अपरा विद्या कहकर स्पष्ट किया है। अपरा विद्या भौतिक जीवन को सफल बनाती है और परा विद्या (अध्यात्म) जीवन का लक्ष्य अमरत्व या ब्रह्म की प्राप्ति कराती है।

११. **अज्ञान और अशिक्षा। का उन्मूलन** ऋग्वेद के अनुसार शिक्षा। का उद्देश्य है कि इसके द्वारा अज्ञान और अविद्या को दूर करना, अन्धवि"वास, अपराधी प्रवृत्तियों आदि को दूर करना, तथा जीवन को सुखी करना है।

१२. **लोकहितकारी सद्बुद्धि देना** शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य की ओर संकेत करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है कि शिक्षा के द्वारा ऐसी सुमति (सद्बुद्धि) प्राप्त हो, जो वि"वजनीन हो अर्थात् जिससे संसार का कल्याण कर सकें। उक्त उद्देश्यों से स्पष्ट होता है कि वैदिक कालीन शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का सर्वागीण विकास करना था। व्यक्ति की अर्न्तनिहित क्षमता को प्रस्फुटित करना था जिससे न केवल उसका बल्कि समाज एवं राश्ट्र का भी भला हो सके। अल्तेकर ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि शिक्षा वह प्रकाश पुंज है जो जीवन के विविध क्षेत्र में पथ प्रदर्शन का काम करती है। यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति की प्रतिभा को उभरने का अवसर मिल सके। शिक्षा। तीसरे नेत्र का काम करती है एवं इसके बिना व्यक्ति नेत्रहीन है-

'ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्वार्थविलोक दक्षम्।
तेजोऽनपेक्षं विगतान्तरामं प्रवृत्तिमत्सर्व जगत्रयेपि।।'[२२]

१३. **तप और दीक्षा (अनुशासन और समर्पण) के मूल्यों का विकास करना** अथर्ववेद ने तप और दीक्षा को राश्ट्रीय उन्नति का आधार बताया है और इससे ही राष्ट्र, समाज और व्यक्ति की उन्नति होती है। वैदिक कालीन शिक्षा का उद्देश्य जीवन को तपस्वी बनाना है, जीवन को सन्तुलित हुआ बनाना है। तप और साधना से ही जीवन सन्तुलित बनता है। इसके लिए साधारण

और कठिन साधनाएँ करनी पड़ती हैं। अतः अथर्ववेद का कथन है कि तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए, वेदों को पढ़ते हुए दीर्घायु एवं मेधावी हों।

१४. **बुद्धि का परिश्कार और बौद्धिक विकास** अथर्ववेद का कथन है कि शिक्षा। का उद्देश्य व्यक्ति की बुद्धि को विकसित करना, उसे परिश्कृत करना, उसे तीक्ष्ण बनाना ,उन्नति की ओर ले जाना और महान सौभाग्य प्राप्त करना है।

१५. **व्रत और श्रद्धा का विकास** किसी एक लक्ष्य को लेकर उसके प्रति समर्पित भाव से जुट जाना व्रत है। यजुर्वेद में व्रत को जीवन की आधार"ाला बताते हुए कहा गया है कि व्रत से मनुष्य दीक्षित होता है, दीक्षा से दाक्षिण्य या प्रवीणता आती है, उस दक्षता के कारण ही मनुष्य में श्रद्धा उत्पन्न होती है और श्रद्धा से ही जीवन के लक्ष्य रूप सत्य ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

१६. **चिन्तन भाक्ति को बढ़ाना** शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य में विचार भाक्ति, मनन"ाक्ति, चिन्तन भाक्ति और कर्तव्याकर्तव्य के निर्धारण करने वाली विवेक भाक्ति को जाग्रत करना और बढ़ाना है। ऋग्वेद का इसके साथ ही आदेश है कि स्वयं में दिव्य गुणों का विकास करके दूसरों में भी गुणों का विकास करो।

१७. **विद्या और बुद्धि का समन्वय** विद्या के साथ व्यावहारिक बुद्धि का होना आव"यक है। व्यवहार भून्य और लौकिक ज्ञान-शून्य विद्या को विद्या नहीं कहा जा सकता है। अतः वेद का कथन है कि सरस्वती (विद्या) के साथ धी (व्यवहार-बुद्धि) का होना भी आवश्यक है।

इस प्रकार शिक्षा के द्वारा प्राप्त ज्ञान मार्ग पर चलकर ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है और यही शिक्षा का मौलिक उद्देश्य हैं।[२३] प्राचीन काल में शिक्षा का आधार धर्म तथा धार्मिक क्रियायें थी। अनादिकाल से भारत में शिक्षा स्वयं के लिए नहीं अपितु धर्म के लिए प्रदान की जाती थी। यह मुक्ति और आत्मबोध का साधन थी। वैदिक काल में धार्मिकता, चरित्र निर्माण, नागरिक तथा सामाजिक कर्तव्य पालन की क्षमता, राश्ट्रीय संस्कृति का विकास करना आदि शिक्षा के लक्ष्य थे। ज्ञान और सत्यानुभूति वैदिक शिक्षा का आधार थी। छात्रों का चरित्र का निर्माण शिक्षा का एक अनिवार्य उद्देश्य माना जाता था। इसके अतिरिक्त वैदिक कालीन शिक्षा। का उद्दे"य इस लोक में सर्वांगीण अभ्युदय और परलोक में परम निःश्रेयस की प्राप्ति करना था।[२४] साथ ही शिक्षा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के साथ-साथ व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करती थी। शिक्षा का लक्ष्य छात्र का शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सभी को परिश्कृत करना था। वैदिक शिक्षा के अंतर्गत तप और त्याग के प्रशिक्षण द्वारा अनिश्ट और कुसंकल्पों के विध्वंस के लिए व्यक्ति को इस योग्य बनाया जाता था कि वह समाज के अभ्युदय में उपयोगी सिद्ध हो सके।[२५]

संदर्भ

१. ठाकुर, पं० आद्या, वेदों में भारतीय संस्कृति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदे"ा सरकार, लखनऊ, १९६७, पेज ०६

२. *अल्तेकर, ए०एस०, प्राचीन भारत में शिक्षा। , विद्याभवन, बंबई,१९६३, पेज २२*

३. *पांडेय, डॉ. राजबली, हिन्दू संस्कार, तृतीय संस्करण, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७८, पेज १६*

४. गुप्त , अत्रिदेव, संस्कार विधि विम"ा, वि"वविद्यालय प्रका"ान, वाराणसी, १९५१, पेज १२

५. कुमार, डॉ. कृष्ण, प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति, द्वितीय संस्करण, रावत पब्लिके"ांस, जयपुर, १९९८, पेज ०९

६. *सिंह, राजेन्द्र पाल एवं लता चन्दोला, शिक्षक एवं ज्ञानवान समाज, शिप्रा प्रकाशन, दिल्ली, २००४ पेज १७*

७. *काणे,पाण्डुरंग, धर्म"ाास्त्र का इतिहास, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदे"ा सरकार, लखनऊ, १९६६, पेज १४५*

८. पारा"ार संहिता २.६.२१

९. द्विवेदी, डॉ. कपिल देव, लघु सिद्धान्त कौमुदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००१, पेज १२९.

१०. द्विवेदी, रेवाप्रसाद, लघु सिद्धान्त कौमुदी संज्ञा प्रकरण, भारतीय विद्याभवन,बम्बई, १९५८, पेज ३२

११. गैरोला, वाचस्पति, भारतीय संस्कृति और कला,हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, १९७३, पेज २९

१२. मिश्र, जय"ांकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, १९७४, पेज २०३